Gyanshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2023 GISRRJ | Volume 6 | Issue 1 | ISSN : 2582-0095

समकालीन कविता में सांस्कृतिक विरासत की खोज

डॉ राकेश चंद्र
एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, जे वी जैन कालेज, सहारनपुर , भारत।

Article Info
Publication Issue :
January-February-2023
Volume 6, Issue 1
Page Number : 80-88
Article History
Received : 01 Jan 2023
Published : 20 Jan 2023

भारतीय संस्कृति मानव इतिहास की अनमोल धरोहर है। भारतीय संस्कृति का प्रभाव विश्व के हर एक जाति या सम्प्रदाय पर पड़ा है। बाहरी आक्रमणों से इस पर कई आघात भी हुए हैं तथापि भारतीय संस्कृति आज भी अक्षुण्य है। संस्कृति किसी भी देश या समाज के लिए उसकी आत्मा के समान होती है जिसका तात्पर्य होता है– ''मन की, हृदय की वृत्तियों को संस्कार के द्वारा सुधारना तथा उदात्त बनानार।''[1]
वस्तुतः संस्कृति आंतरिक गुणों का समूह है। वह एक प्रेरक शक्ति है। संस्कृति वो तत्व है जिसके आधार पर मानव अपने समूहों, सामाजिक जीवन व्यवस्था, लक्ष्यों तथा आदर्शों को बनाता है। प्रत्येक समाज का सांस्कृतिक रूप कुछ विशिष्टता लिये होता है।

भारतीय चिन्तकों और विद्वानों के कारण भारतीय संस्कृति आध्यात्मिक ज्ञान के साथ–साथ समाज व्यवस्था, चिकित्सा शास्त्र, नीति शास्त्र, शासन व्यवस्था, संगीत शिल्प एवं साहित्य के प्रति भी जागरूक रही है। इसी कारण भारतीय जीवनधारा में त्याग, तप, दया, सेवा, धर्म, कर्म, दर्शन एवं आध्यात्मिकता का महत्व है और स्वीकृति का भाव भी है। समाज को सुदृढ़ रूप से चलाने के लिए जो रूप भारतीय संस्कृति का विकसित हुआ है संसार में वैसा अन्यत्र प्राप्त करना दुर्लभ है। भारतीय संस्कृति में श्रम विभाजन, वर्ण व्यवस्था को स्वीकार किया गया है जो गुणों के आधार पर कर्म का विभाजन है। इसी तरह से कुलधर्म, राजधर्म, देशधर्म, स्वधर्म आदि को मान्यता देकर व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास के लिए आश्रम व्यवस्था का विधान किया गया है। भारतीय संस्कृति के मूल में स्वार्थ सिद्धि के स्थान पर परसेवा, समाज सेवा एवं परमार्थ पर अधिक ध्यान दिया गया है। जहाँ पर व्यक्ति को समाज में, समष्टि में और आध्यात्मिकता में लीन होने को कहा गया है। मुण्डक उपनिषद में भी इसी तथ्य की ओर संकेत किया गया है–

''सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा, सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येणनित्यम्।
अंत शरीरे जयोतिर्मयो हि शुभ्रो, वं पश्यन्ति यतयः क्षीण दोषाः।।''[2]

वास्तव में भारतीय संस्कृति का ध्येय मानव का शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक विकास करना है। भारतीय संस्कृति का लक्ष्य एकता और वसुधैव कुटुम्बकम की भावना है।

''सवे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चित् दुःख भाग्भवेत्।।''[3]

Copyright: © the author(s), publisher and licensee Shauryam Research Institute. This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution Non-Commercial License, which permits unrestricted non-commercial use, distribution, and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited

इन उदात्त और सर्वोच्च अभिलाषाओं के कारण ही भारतीय संस्कृति सर्वोष्कृष्ट एवं महान है। भारतीय सामाजिक और सांस्कृतिक एकता के रूप में संयुक्त परिवार, जाति प्रथा, वर्ण व्यवस्था, यज्ञोपवीत, पूजा–पाठ, विवाह संस्कार, कर्म की महत्ता आदि आज भी अपनी–अपनी भूमिकायें निभा रहे हैं। कुछ बाहरी और अन्दरूनी प्रभावों के कारण यद्यपि संस्कारगत मान्यताओं का रूप परिवर्तित हुआ है तथापि आज भी भारतीय संस्कृति विश्व को शांति और प्रेम का सन्देश दे रही है।

स्वातन्त्रयोत्तर भारतीय परिवेश पर पाश्चात्य प्रभाव और आधुनिकता के प्रति आग्रह के कारण भारतीय संस्कृति का रूप परिवर्तित हुआ है। नवीन मूल्यों एवं मान्यताओं की स्थापना हुई है। इस दौर में भारत का व्यापार ही नहीं अपितु अधिकांश ज्ञान–विज्ञान का जरिया भी विदेशी ही है। जिस कारण व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों का प्रभाव बढ़ा है जिस कारण सांस्कृतिक विघटन भी बढ़ा। बदलाव और नवीनता के नाम पर अधिकतर सांस्कृतिक मान्यताओं के प्रति उपेक्षा का भाव बढ़ रहा है। समकालीन रचनाकारों ने यूरोपीय त्रासदी को अपना आदर्श और युगबोध मान लिया है। यहीं से उच्चतर सांस्कृतिक मूल्यों का विघटन या निषेध शुरू हुआ। समकालीन कवि आस्थाहीन होकर ईश्वरीय सृष्टि को निरर्थक मानकर ईश्वर की मृत्यु की घोषणा करने लगा। कुंवर नारायण की आत्मजयी, नरेश मेहता की 'संशय की एक रात, जगदीश चतुर्वेदी की 'सूर्यपुत्र' व अन्य कई रचनाओं में सांस्कृतिक विघटन के रूप स्पष्ट देखे जा सकते हैं।

''मर गया ईश्वर
विषमता का सहायक मर गया
आदमी के हाथ में ही आदमी का भाग्य देकर
विश्व का दैवी विधायक मर गया
मर गया ईश्वर
आदमी ने जब तलक पूजा अंधेरे में उसे
जिन्दा रहा रोशनी के सामने
ज्यों ही पुकारा
मर गया ईश्वर।।''[4]

स्वातन्त्रयोत्तर भारतीय संस्कृति में ऊहापोह और आस्था तथा अनास्था के द्वन्द्व की अभिव्यक्ति समकालीन कविता में हुई है। प्राचीनता का मोह और नवीनता का आग्रह भी समकालीन कविता में दृष्टिगोचर होता है। प्राचीन भारतीय संस्कृति में आवरण, शिष्टाचार, नैतिकता, विनम्रता, मर्यादा आदि की भावना थी किंतु आज का परिवेश इनके प्रति उपेक्षा का भाव रखता है। हर किसी का झुकाव बोल्डनेस और फ्रैंकनेस की तरफ बढ़ रहा है। ये सब मूलतः पाश्चात्यता की देन है जहाँ शादी जैसे संस्कार धार्मिक दृष्टि से मान्य नहीं है। उसी का अनुमान करने की होड़ में सांस्कृतिक मान, मर्यादा और समर्पण तो दूर की बात है, बल्कि स्त्रियाँ अपने 'स्त्री रूप' के लिए भी चिंतित और संघर्ष करती देखी जा सकती हैं–

''मेनका को नहीं चाहिए आश्रय
पत्नीत्व और सौभाग्य
वह इन स्थितियों से मुक्त
बनी रहना चाहती है 'स्त्री।''[5]

मनुष्य के मन और तन के बिखराव में तीसरा भी कोई जुड़ चुका है। जिसे ऊँचे घरानों में अतिआधुनिकता के नाम पर स्वीकारा जा चुका है। जिसके कारण परिवार की परिभाषा, आत्मीयता पर आघात पहुँचा है। पति–पत्नी के बीच स्वार्थों

के रूप में यह तीसरा व्यक्ति पाश्चात्य प्रभाव की देन है। जिस कारण भारतीय संस्कृति के नैतिक मानदण्ड़ों को आघात पहुँचा है–

''हमारे–तुम्हारे बीच
एक तीसरा व्यक्तित्व
कभी–कभी आरे की तरह चलने लगता है
मुझे उसकी गति, उसकी आवाज
जितनी असह्य जितनी कर्कश लगती है
तुम्हें उसकी तीखी कटान
उतनी ही भाती है
उसकी पतली–लम्बी चमचमाती काया–काया का जादू
तुम्हारे भीतर इस तरह बैठा हुआ है
कि तुम्हें अनुभव ही नहीं होता
उस घातक प्रक्रिया का
जो हमें कहीं गहराई में अलग किये जा रही है
मेरा दुःख तुम्हें अपना दुःख नहीं लगता
तो मुझे भी तुम्हारा सुख अपना सुख नहीं लगता।''[6]

पारिवारिक इकाई के टूटने के कारण सम्पूर्ण परिवेश ही बिखर सा जाता है। धर्म, आस्था, मर्यादा या आस्तिकता जैसे जीवन–मूल्यों पर से ही विश्वास हट–सा जाता है। ऐसे में हर कोई ''सर्वे भवन्तु सुखिन'' के आदर्श को भूलकर 'स्वान्त सुखाय' में ही लगा हुआ है। सांस्कृतिक पक्ष खण्डित और व्यर्थ महसूस होते हैं। सांस्कृतिक विखण्डन और परम्पराओं में बिखराव से समाज का लगभग हर मूल्य और व्यवस्था प्रभावित होती है। जिससे सभी क्षेत्रों में विखण्डन शुरू हो जाता है। स्वार्थी सत्तात्मक राजनीति के कारण जनतान्त्रिक और सांस्कृतिक मूल्यों का विखण्डन हो जाता है। राजनीतिक व्यामोह भी इस कारण से सांस्कृतिक विखण्डन में सहायक है। अनैतिक और सुविधाभोगी मानसिकता का पैदा होना इसका एक कारण बना हुआ है–

''अर्थ उपनिवेश बनते हैं
मूल्य बाजारों में बिकते हैं
विक्रय होता आदर्शों का
देश, व्यक्ति का, संस्कृतियों का
लोकतन्त्र भी यहाँ जाल है
आत्मा, अंतःकरण का माल है।।[7]

समाज में अविश्वास और निषेध इस प्रकार से चारों ओर फैला है कि मनुष्य का यथार्थ से विश्वास ही उठ–सा गया है। वास्तव में यह स्थिति बड़ी भयावह है। जागरूक समकालीन रचनाकार आज इस स्थिति से चिन्ताग्रस्त है कि धर्मप्राण महान भारतीय संस्कृति के महायज्ञ में कौन–सी चूक हुई है जिससे प्राचीन और शाश्वत आयोजन आज विफल होता जा रहा है–

''संस्कृति के इस महायज्ञ में
कोई भारी चूक हुई है
छूट गई है कोई बड़ी
अमोघ, अपूजित
भ्रष्ट हुआ जिससे शताब्दियों का आयोजन।।''[8]

समकालीन जीवन में सांस्कृतिक मान्यताओं के विघटित हो जाने से भारतीय परम्परायें जैसे– विवाह संस्कार, यज्ञेपवीत संस्कार, सामूहिक भोज, नित्य क्रिया–कर्म एवं पूजा–पाठ लगभग छूट से गये हैं। जिस कारण आज हमें भारतीय कहलाने में संकोच होता है, ''इण्डियन'' कहलाने पर गर्व होता है। परम्पराओं को निभाने पर ये डर लगता है कि कहीं कोई हमें 'ओल्ड' ना कह दे। वास्तव में यही डर हमारी संस्कृति के विघटन के लिये उत्तरदायी है। हमने उधार में जो आधुनिकता ली है उसके प्रभाव से परिवार से लेकर समाज तक का विघटन हो रहा है। जैसे–

''खूबसूरत घरों में नहीं रहते
पीतल के लोटे, काँसे के कटोरे
मिट्टी के घड़े, खील–बताशे
वहाँ नहीं रहती गंगाजल की बोतल, गीता, रामायण
राधा–कृष्ण–शिव के कैलेण्डर
खूबसूरत घरों में उगे रहते हैं तमाम् तरह के विदेशी फूल
खूबसूरत घरों में नहीं उगता तुलसी का पौधा।।''[9]

धार्मिक और स्वास्थ्य की दृष्टि से उपयोगी इन वस्तुओं का घर में ना होना चिन्तनीय विषय है। आधुनिक होना बुरी बात नहीं पर आधुनिकता के नाम पर स्वास्थ्यवर्धक चीजों को छोड़कर हानिकारक चीजों को अपनाना खेद का विषय है।

''खूबसूरत घरों में
कोई नहीं करता किसी का इंतजार
खूबसूरत घरों के लोग करते हैं मनुष्य से अधिक अपने सामान से प्यार।।''[10]

अतिथि देवो भवः का भाव रखने वाली संस्कृति में मानवीयता आज इस तरह से खत्म हो रही है कि मानव, मानव से ज्यादा भौतिक वस्तुओं को महत्व देने लगा है। आधुनिक कहलाने वाला मनुष्य, मनुष्य और सामान का अन्तर तक भूल चुका है। रिश्तों की आत्मीयता तक अब खत्म हो रही है। बच्चों को बड़ों का साथ ना मिल पाने से उनके व्यक्तित्व का सही निर्माण तक नहीं हो पा रहा है। जिससे अनेक विकृतियाँ आ रही हैं–

''नींद ना आने की बीमारी से
बीमार होते हैं तमाम् खूबसूरत घर।।''[11]

.....

''ठहाके लगाने वाले होते हैं जंगली
छोटी–छोटी खुशियों का मनाते उत्सव।।''[12]

आज का मानव मानवीय मूल्यों को भूलकर एक तनावपूर्ण जीवन की तरफ बढ़ रहा है जिससे अनिद्रा जैसी प्रवृत्तिजन्य ओर परिवेशजन्य बीमारी पैदा हो रही हैं जिसका कारण अतिशय तनाव है। जिसका निदान भी प्रकृति ने दिया है किन्तु मनुष्य सभ्य होने के दिखावे में ठहाके भी नहीं लगाते हैं। क्योंकि ठहाके लगाने वालों को जंगली कहकर बुलाया जाता है। संस्कृति प्रधान देश के सांस्कृतिक मूल्यों का धीरे–धीरे लुप्त होना और समाज का आधुनिकता की चकाचौंध में फंसना आज के मानव के असली चेहरे को बेनकाब करता है जो बाहर से तो खूबसूरत दिखता है किन्तु अहंभाव और दिखावे के कारण, मूल्यवान संस्कृति के पतन के कारण रोगग्रस्त हो चुका है।

आज का भारतीय परिवेश जिस मूल्यहीनता की स्थिति से गुजर रहा है वहाँ जनसामान्य में द्वेष, स्वार्थ, विषमता व्याप्त है जिससे अभिव्यक्ति, स्वतंन्त्रता जैसे नवीन जीवन मूल्य भी समाजोपयोगी नहीं हो रहे है। मूल्यों के संक्रमण की ऐसी स्थिति में कवि ये सोचने को मजबूर है–

''न जाने क्या हुआ मेरे युग को
कि कहता रहा आदमी से आदमी
जुड़ती रही भीड़ जन–पथों पर
अधिकार मांगने की मुद्रा में
शताब्दी का पानी नालियों में बह गया
टूटते रहे लोग अन्दर से बाहर
और प्रार्थनाएं जड़ हो गई
दुखांत स्थितियों में..... एक साथ।।''[13]

वस्तुतः नये मूल्यों को लाने के प्रयास में कुछ पुराने मूल्य विघटित हुए हैं। किन्तु वे पूर्ण रूप से समाज से अलग नहीं हो पाये क्योंकि समाज ने पुराने मूल्यों को पोषित किया और नये को आवश्यकतानुसार अंगीकार किया। नये और पुराने के बीच का यह संघर्ष आज के परिवेश का महत्वपूर्ण सांस्कृतिक संघर्ष है। जहाँ पुराने मूल्यों के चलते जाने और नवीन मूल्यों की स्थापना ना होने के कारण युवा परम्परावादियों पर आरोप लगाता है। वहीं दूसरी ओर परम्परावादी संस्कृति के नष्ट होने और बिखराव का कारण नयी पीढ़ी पर मढ़ते है। पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के अन्धानुकरण में भटकने और दिशाहीन ज्ञान ने हमारी संस्कृति को विघटित किया है। इसी भटकाव की ओर कवि संकेत भी करता है–

''एक सुनहली किरण उसे भी दे दो
भटक गया जो अंधियारों में
लेकिन जिसके मन में
अभी शेष है चलने की अभिलाषा
एक सुनहली किरण उसे भी दे दो।।''[14]

अपनी प्राणवान परम्पराओं को छोड़ना सभ्यता की नहीं बल्कि असभ्य होने की निशानी है। भारतीय संस्कृति का मूल तत्व प्रेम, त्याग और समर्पण है। एक सच्चा प्रेमी प्रेम में बड़े से बड़ा त्याग करने से भी पीछे नहीं रहता। यही हमारी संस्कृति में प्रेम की मर्यादा है। जिसमें एक–दूसरे के कष्टों और दुःखों को अपनाने की भावना है–

''टल तुमसे आ जायें
मुझ पर सारी बलायें

प्रियतम सोचो कि अनुरागिणी तुम्हारी यह

सुकुमारी दुर्बल है।''[15]

आज कुछ लोग प्रेम के इस आदर्श रूप को तोड़कर सौदा बनाने में लगे हैं जबकि प्रेम वो भाव है जो परिवार, समाज, राष्ट्र या देश को संगठित बनाये रखता है। जिसके कारण भारतीय मनीषी वसुदैव कुटुम्बकम की संकल्पना कर सके हैं। हमारी संस्कृति के आदर्श सत्य, न्याय, अहिंसा और मानव कल्याण रहे हैं। 'अहिंसा परमो धर्मः' और 'सत्यं वद्' जैसे सूत्र आज भी सर्व मान्य हैं। हमारी संस्कृति में मनुष्य, पशु–पक्षी के प्रति हिंसा की मनाही है। प्रकृति और हरे–भरे पेड़–पौधों को काटना या नुकसान पहुँचाना धर्म के विपरीत आचरण माना गया है। युद्ध या हिंसा का कारण स्वार्थ और लालच को माना गया है, प्रेम, दया, करूणा और उदारता को वरीयता दी गई है–

''इतिहास

खड्ग से नहीं

मानवीय उदारता से लिखा जाना चाहिए।''[16]

युद्ध या हिंसा सभी समस्याओं का हल नहीं है। कोई भी शासक आंतक या डर के द्वारा शांति की स्थापना नहीं कर सकता। शांति की स्थापना के लिए सौहार्द, धर्म–अधर्म मार्ग को समझना आवश्यक है। न्याय के सन्दर्भ में भारतीय संस्कृति शारीरिक श्रम की पक्षधर रही है हिंसा या प्राणदण्ड की नहीं तथापि कुछ परिस्थितियों को मान्य भी किया है जिनमें हिंसा को जायज माना गया है–

''जहाँ न्याय की हत्या हो

अन्याय सफल हो

जहाँ शक्ति का अहंकार हो

जहाँ विवश–सा शौर्य

झुकाये शीश सिंहरता

जहाँ प्रबल हो असुर

और निर्बल हो भर्ता

जहाँ धैर्य का दुर्ग अन्ततः ढह जाता है।

और एक मात्र उपाय युद्ध ही रह जाता है।''[17]

इसी तरह से अहिंसा और न्याय के बराबर ही सत्य को भी समकालीन कवियों द्वारा सांस्कृतिक, नैतिक आदर्श के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। सत्य के रक्षार्थ अपने प्राणों का उत्सर्ग करने की कितनी ही कहानियाँ भारतीय संस्कृति का गुणगान करती भारतीय परिवेश में प्रचलित हैं–

''सत्य कितना भी कटु हो?

कटु से कटुतर हो

कटुतर से कटुतम हो

फिर भी कहूँगा मैं।''[18]

किसी भी परिवेश की सांस्कृतिक मान्यतायें जैसी होती हैं वहाँ के लोगों के नैतिक आचरण और शिष्टाचार भी वैसे ही होते हैं। जैसे पाश्चात्य परिवेश में हाथ मिलाना या गले लगाना शिष्टाचार है जबकि भारतीय संस्कृति में चरण स्पर्श

करना और नमस्कार है, जो भारतीय संस्कृति को उत्कृष्ट बनाते हैं। भारतीय संस्कृति में जितना आदर्श और सम्मान का भाव झलकता है वो अन्यत्र दुर्लभ है। इसी परम्परा की पहचान कराता कवि कहता है–

''नगई ने बैठन को खोलकर पोथी को
माथे से लगा लिया
फिर उसे खाट के सिरहाने रखा
लोटे में पानी लेकर मुझसे कहा–चरण मुझें धोने दो।''[19]

यह श्रृद्धा का भाव है जो बड़ों के प्रति एवं संस्कारों के प्रति है। भारतीय संस्कृति आस्तिकता और धर्मपरायणता से युक्त है। ईश्वर, आस्था, शरीर की नश्वरता, परलोक की चिन्ता, सत्य, अहिंसा, तप आदि बातें भारतीय संस्कृति की आधार हैं। भारतीय संस्कृति में हर एक व्यक्ति और उसके पद के अनुरूप कर्तव्यों की व्याख्या है। यही बात भारतीय संस्कृति को जीवन मूल्यों का निर्माण करने वाला बनाती हैं। यही बात व्यक्ति का ईश्वर के प्रति आस्था प्रदर्शित करते हुए समूचे विश्व के कल्याण की कामना से युक्त बनाती है और प्रकृति की सम्पूर्णता में उसके अस्तित्व को स्वीकार का भाव देती है।

''हिमालय से आने वाली हवाएं
ठंडी हैं
रेगिस्तान से आया पवन तपता है।
और समुद्र को छूकर वायु
शीतल है
कौन है जो ठंडा तपता शीतल है।
या वह जो दोनों से परे है
जो सर्वत्र व्याप्त है।''[20]

कण–कण में व्याप्त सत्ता के प्रति मानव सदैव से ही आकर्षित रहा है और जिज्ञासा से व्याकुल भी। संसार के समस्त क्रिया–कलाप अपनी गति से होते रहते हैं और वो कौन है जो इन सब का कर्ता धर्ता है। आध्यात्मिकता भारतीय संस्कृति की प्राण और चेतना है। बदलते परिवेश और मान्यताओं के बाद भी ईश्वर के प्रति आस्था और विश्वास भारतीय जन–जीवन का भाग है।

संस्कृति और सौन्दर्य का भी आपस में गहरा रिश्ता है, सौन्दर्य का मनुष्य की आत्मा से भी गहरा सम्बन्ध है। इससे परिवेश का कण–कण प्रभावित होता है। इसे ही प्रकृति भी कहते हैं । पंच तत्वों की विविधता सदैव मनुष्य को आकर्षित करती है। प्रकृति के प्रति जिज्ञासा का ये भाव और उस जिज्ञासा का समाधान ही मानव संस्कृति का इतिहास है। प्रकृति के सौन्दर्य पर मानव सदैव से ही मुग्ध रहा है। प्रकृति के सौन्दर्य ने समकालीन कवि को भी मन्त्रमुग्ध किया है–

''खुले आसमान के छोटे टुकड़े ने
मुझे फिर से लुभाया
वही चिड़ियों का गाना
कजरारे मेघों का
नभ से ले धरती तक धूम मचाना
पौधों का अकस्मात उग आना

सूरज का पूरब में चढ़ना और

पश्चिम में ढल जाना

जो प्रतिक्षण सुलभ

मुझे उसी ने लुभाया।।''[21]

खुला आकाश, अचानक बादल आ जाना, चिड़ियों का गाना, सूरज का उगना और छिप जाना, कजराने बादल आदि दृश्य कवि की चेतना को झंकृत करते हैं।

समकालीन कवि ने अपने परिवेश के अनुरूप यथार्थ अभिव्यक्ति की है। आज का परिवेश मूल्यहीनता की स्थिति से गुजर रहा है। मूल्यों की अवहेलना करके मानव कभी सुख का अनुभव नहीं कर सकता। सांस्कृतिक मूल्यों को छोड़ना असभ्य होने की निशानी है। वर्तमान में मूल्य इस कदर गिर रहे हैं कि जीवन जीने का अर्थ भी बदल रहा है। जिससे भारतीय संस्कृति के मूल तत्व जैसे सहिष्णुता, आस्तिकता, शिष्टाचार, संयुक्त परिवार आदि भी टूट रहे हैं। यही कारण है कि इनके प्रति समकालीन रचनाकारों में उतना आग्रह नहीं है जितना नये मूल्यों की खोज में है। इस तरह से समकालीन रचनाकार परम्परावादी और अपरम्परावादी दो गुटों में बंटे हैं। इनमें एक तरफ संस्कृति के खत्म होने का भय है तो दूसरी ओर आधुनिकता का आग्रह है। समग्र रूप से समकालीन काव्य में सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक परिवेश की अभिव्यक्ति ज्यादा हुई है, संस्कृति की अपेक्षा। इन सब बातों को ही अपनी जड़ों से कटना कहा जाता है। एक स्वस्थ जीवन परम्परा के लिए अपने सांस्कृतिक मूल्यों को अपनाया जाना जरूरी है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. विश्वधर्म दर्शन, श्री सांवरिया बिहारी लाल वर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पृ0– 363
2. मुण्डक उपनिषद, 3/1/5, उद्धृत विश्व धर्म दर्शन, वर्मा पृ0 365
3. ईशावास्योपनिषद, मंत्र 6–7, उद्धृत वही, पृ0 367
4. ये सपने, ये प्रेत, रणजीत, पृष्ठ 11 प्रका0 वर्ष 1964, सिद्धार्थ प्रकाशन, उदयपुर
5. एक पुरूष और, डॉ0 विनय, पृ0 125
6. युग्म, डॉ0 जगदीश गुप्त, पृ0 145, प्रकाशन वर्ष 1973, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
7. कल्पान्तर, गिरिजा कुमार माथुर, पृ0–32
8. वही, पृ0–99
9. कृष्ण कुमार, पहाड़ पर नदियों के घर, पृ0– 9–10, प्रकाशन वर्ष 2004, प्रकाशन संस्थान
10. वहीं, पृ0–10
11. वही
12. वहीं, पृ0–9
13. एक पुरूष और, डॉ0 विनय, पृ0 155
14. खुले हुए आसमान के नीचे, कीर्ति चौधरी, पृ0 11, प्रका0 वर्ष 2010, मेघा बुक्स प्रकाशन
15. इला और अमिताभ, डॉ0 देवराज, पृ0–22
16. प्रमाद पर्व, नरेश मेहता पृ0– 33, प्रका0 वर्ष 1980, लोकभारती प्रकाशन

17. एक कंठ विषपायी, दुष्यंत कुमार, पृ0– 104, प्रकाशन वर्ष 2013, लोकभारती प्रकाशन
18. अंधायुग, धर्मवीर भारती पृ0– 37, प्रका0 वर्ष 2005, किताबघर प्रकाशन
19. प्रतिनिधि कवितायें, त्रिलोचन शास्त्री, पृ0 58, प्रका0 वर्ष 2017, राजकमल प्रकाशन
20. इत्ता, राजेन्द्र शर्मा, आजकल, जुलाई, 1982, पृ0–7
21. खुले आसमान के नीचे, कीर्ति चौधरी, पृ0– 108, प्रका0 वर्ष 2011, लोकभारती प्रकाशन